आत्मा के मौलिक गुणों की विकास प्रक्रिया के निर्णायक : *गुणस्थान*

○ श्री गणेश मुनि शास्त्री

(सुप्रसिद्ध साहित्यकार)

'संसारी' जीवों का वर्गीकरण—'जीव' अनन्त हैं। इनमें से जो जीव, पुनः-पुनः जन्म-मरणरूप में संसरण करते रहते हैं, उन्हें हम 'संसारी' जीव कहते हैं। किन्तु जो जीव सदा के लिए, संसरण से मुक्ति पा चुके हैं, वे 'मुक्त' जीव कहलाते हैं। मुक्त-जीव 'अशरीरी' हैं। इनमें भावात्मक-परिणति की अपेक्षा से कोई भेद/अन्तर नहीं है। ये सभी सर्वात्मना ज्ञान, दर्शन, सुख-आदि अनन्त-स्वात्मगुणों से परिपूर्ण हैं, निजानन्द-रस-लीन हैं। लेकिन, संसारी जीवों में अनन्त-प्रकार की विभिन्नताएँ देखी जाती हैं। जितने जीव, उतनी ही विभिन्नताएँ उनमें रहती हैं। इनमें 'शारीरिक'/'ऐन्द्रियिक' विभिन्नताएँ जितनी प्रकार की हैं, उनसे भी अनन्त गुणी अधिक विभिन्नताएँ 'आन्तरिक' होती हैं। फिर भी, जन सामान्य को सुगमता से बोध कराने के लिए, 'संसारी' जीवों का वर्गीकरण अध्यात्मविज्ञानियों ने निम्नलिखित आधारों पर किया है :—

१. बाह्य/शारीरिक विभिन्नताएँ,

२. शारीरिक/आन्तरिक-भावों को मिश्रित अवस्थाएँ,

३. मात्र आन्तरिक भावों की शुद्धिजन्य उत्क्रान्ति,

अथवा

आन्तरिक भावों की अशुद्धिजन्य अपक्रान्ति।

उक्त आधारों पर किये गये वर्गीकरण को हम शास्त्रीय परिभाषा में, क्रमशः 'जीवस्थान' 'मार्गणास्थान' और 'गुणस्थान' कहते हैं। ये तीनों—वर्ग, उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के बोधक हैं। प्रस्तुत लेख में, हम सिर्फ तृतीय-वर्ग 'गुणस्थान' की दृष्टि से, संसारी-जीवों की स्थिति, उसके मौलिक गुणों की विकास-प्रक्रिया की चर्चा करेंगे।

'संसार' और 'मुक्ति' के कारण—जैनदर्शन की तरह विश्व के सभी चिन्तकों ने, राग-द्वेष को संसार के कारण रूप में माना है। क्योंकि, मानसिक-विकार, या तो 'राग' (आसक्ति) रूप होता है, या फिर 'द्वेष' (ताप) रूप। यह अनुभव-सिद्ध भी है कि साधारण-जनों की प्रकृति, ऊपर से चाहे कैसी भी क्यों न दिखे, वह या तो राग-मूलक होती है, या फिर द्वेषमूलक होती है। यही प्रवृत्ति, विभिन्न वासनाओं का कारण बनती है। प्राणी, जाने या न जाने, किन्तु उसकी वासनात्मक-प्रवृत्ति के मूल में, ये 'राग' और 'द्वेष' ही होते हैं। जैसे, मकड़ी, अपनी प्रवृत्ति से स्व-निर्मित जाले में फँसती है, उसी प्रकार प्राणी भी, अपने ही राग द्वेष से अज्ञान, मिथ्याज्ञान और कदाचरण का ऐसा ताना-बाना रचता है, कि संसार में फँसता चला जाता है। न्याय-वैशेषिक-दर्शन में 'मिथ्याज्ञान' को, योगदर्शन में 'प्रकृति-पुरुष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अभेद' को, और वेदान्त आदि दर्शनों में 'अविद्या' को, संसार के कारण रूप में बतलाया गया है। ये सभी शाब्दिक-भेद से राग-द्वेष के ही अपर नाम हैं। इन राग-द्वेषों के उन्मूलक साधन ही मोक्ष के कारण हैं।

इसी दृष्टि से, जैन-शास्त्रों में मोक्ष-प्राप्ति के तीन साधन (समुदित) बताये हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। कहीं-कहीं 'ज्ञान' और 'क्रिया' को मोक्ष का साधन कहा है। ऐसे स्थानों पर, 'दर्शन' को 'ज्ञान' का विशेषण समझकर उसे ज्ञान में गर्भित कर लेते हैं। इसी बात को वैदिक-दर्शनों में 'कर्म', 'ज्ञान', 'योग' और 'भक्ति' इन चार रूपों में कहा है। लेकिन, संक्षेप और विस्तार अथवा शब्द-भिन्नता के अतिरिक्त आशय में अन्तर नहीं है। जैनदर्शन में जिसे 'सम्यक्चारित्र' कहा है, उसमें 'कर्म' और 'योग' दोनों का समावेश हो जाता है। क्योंकि 'कर्म' और 'योग' के जो कार्य हैं, उन 'मनोनिग्रह', 'इन्द्रिय जय', 'चित्त शुद्धि' एवं 'समभाव' का तथा उनके लिए किये जाने वाले उपायों का भी, 'सम्यक्चारित्र' के क्रिया रूप होने से, उसमें समावेश हो जाता है। 'मनोनिग्रह' 'इन्द्रिय जय' आदि 'कर्ममार्ग' है। 'चित्त शुद्धि' और उसके लिए की जाने वाली सत्प्रवृत्ति 'योग-मार्ग' है। सम्यग्दर्शन 'भक्तिमार्ग' है। क्योंकि 'भक्ति' में 'श्रद्धा' का अंश प्रधान है और 'सम्यग्-दर्शन' श्रद्धारूप ही है। सम्यग्ज्ञान 'ज्ञानमार्ग' रूप ही है।

इस प्रकार से, सभी दर्शनों में, मुक्ति-कारणों के प्रति एकरूपता है। इन कारणों का अभ्यास/आचरण करने से जीव 'मुक्त' होता है।

गुणस्थान/भूमिका/अवस्था—जिन आस्तिक दर्शनों में संसार और मुक्ति के कारणों के प्रति मतैक्य है, उन दर्शनों में आत्मा, उसका पुनर्जन्म, उसकी विकासशीलता तथा मोक्षयोग्यता के साथ किसी न किसी रूप में, आत्मा के क्रमिक-विकास का विचार पाया जाना स्वाभाविक है। क्योंकि विकास की प्रक्रिया, उत्तरोत्तर अनुक्रम से वृद्धिगत होती है। सुदीर्घ मार्ग को क्रमिक पादन्यास से ही पार किया जाना शक्य है। इसी दृष्टि से, विश्व के प्राचीनतम, तीन दर्शनों—जैन, वैदिक एवं बौद्ध में, उक्त प्रकार का विचार पाया जाता है। यह विचार, जैनदर्शन में 'गुणस्थान' नाम से, वैदिक दर्शन में 'भूमिका' नाम से, और बौद्ध-दर्शन में 'अवस्था' नाम से प्रसिद्ध है।

यद्यपि, आत्मा के मौलिक गुणों के क्रमिक विकास का दिग्दर्शन कराने के लिए 'गुणस्थान' के नाम से जैसा सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन जैनदर्शन में किया गया है, वैसा, सुनियोजित, क्रमबद्ध एवं स्पष्ट विचार, अन्य दर्शनों में नहीं है। तथापि, वैदिक और बौद्धदर्शनों के कथनों की, जैनदर्शन के साथ आंशिक समानता है। इसीलिए, गुणस्थानों का विचार करने से पूर्व, वैदिक और बौद्धदर्शन के विचारों का अध्ययन-संकेत भर यहाँ करना उचित है।

वैदिक दर्शनों में आत्मा की भूमिकाएँ—वैदिक दर्शन के पातंजल-'योगसूत्र' में और 'योगवाशिष्ठ' में भी, आध्यात्मिक-भूमिकाओं पर विचार किया गया है। पातंजल योगसूत्र में इन भूमिकाओं के नाम—मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कार-शेषा उल्लिखित हैं। जबकि योगवाशिष्ठ में 'ज्ञान' एवं 'अज्ञान' नाम के दोनों विभागों के अन्तर्गत सात-सात भूमिकाएँ, कुल चौदह भूमिकाएँ उल्लिखित हैं। इनके वर्णन के प्रसंग में, ऐसी बहुत-सी बातों के संकेत हैं, जिनकी समानता, जैनदर्शन-सम्मत अभिप्रायों के साथ पर्याप्त मिलती-जुलती है। उदाहरण के लिए, जैन-शास्त्रों में 'मिथ्या-दृष्टि' या 'बहिरात्मा' के रूप में, अज्ञानी जीव का जो लक्षण[1] बतलाया गया है, वही लक्षण, योग-

१ आत्मधिया समुपात्तकायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा। —योगशास्त्र, प्रकाश—१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाशिष्ठ[1] और पातंजल योगसूत्र[2] में भी बतलाया गया है। जैनशास्त्रों में 'मिथ्यात्व' का फल 'संसार बुद्धि' और 'दुःख रूप' में वर्णित[3] है, यही बात, 'योगवाशिष्ठ' में अज्ञान के फलरूप में बतलाई गई है।[4] जैन शास्त्रों में 'मोह' को बंध/संसार का हेतु माना गया है तो, यही बात, प्रकारान्तर से योगवाशिष्ठ में भी कही गई है।[5] जैनशास्त्रों में 'ग्रन्थिभेद' का जैसा वर्णन है, वैसा ही वर्णन, 'योगवाशिष्ठ' में भी है।[6] योगवाशिष्ठ में 'सम्यग्ज्ञान' का जो लक्षण बतलाया गया[7] है, वह जैन शास्त्रों के अनुरूप है। जैन शास्त्रों में 'सम्यग्दर्शन' की प्राप्ति, स्वभाव और बाह्यनिमित्त दो प्रकार से बतलाई गयी है। योगवाशिष्ठ में 'ज्ञान प्राप्ति' का, वैसा ही क्रम सूचित किया गया[8] है।

योगवाशिष्ठ में प्रतिपादित चौदह भूमिकाएँ[9] ये हैं—(१) 'अज्ञान' की भूमिकाएँ—बीज-जागृत, जागृत, महाजागृत, जागृत-स्वप्न, स्वप्न, स्वप्न-जागृत, और सुषुप्तक। (२) 'ज्ञान' की भूमिकाएँ—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, और तूर्यगा। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित प्रकार है—

१. **बीज-जागृत**—इस भूमिका में, 'अहं' बुद्धि की जागृति तो नहीं होती, किन्तु जागृति की योग्यता, बीज रूप में पायी जाती है।

२. **जागृत**—इस भूमिका में, अहं बुद्धि, अल्पांश में जागृत होती है।

३. **महाजागृत**—इसमें 'अहं बुद्धि' विशेष रूप से जागृत–'पुष्ट' होती है। यह भूमिका, मनुष्य/देव-समूह में मानी जा सकती है।

४. **जागृत-स्वप्न**—इस भूमिका में, जागते हुए भी भ्रम का समावेश होता है। जैसे, एक चन्द्र के बदले दो चन्द्र दिखाई देना, सीपी में चाँदी का भ्रम होना।

५. **स्वप्न**—निद्रावस्था में आये स्वप्न का, जागने के पश्चात् भी भान होना।

६. **स्वप्न-जागृत**—वर्षों तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का इसमें समावेश होता है। शरीरपात हो जाने पर भी इसकी परम्परा चलती रहती है।

७. **सुषुप्तक**—प्रगाढ़-निद्रा जैसी अवस्था। इसमें 'जड़' जैसी स्थिति हो जाती है, और कर्म, मात्र वासना रूप में रहे हुए होते हैं।

८. **शुभेच्छा**—आत्मावलोकन की वैराग्ययुक्त इच्छा।

---

१ यस्य ज्ञानात्मनो ज्ञस्य देह एवात्मभावना।
उदितेति रुषैवाक्ष रिपवोऽभिभवन्ति तम्॥
—योगवाशिष्ठ-निर्वाणप्रकरण-पूर्वा०-स०-६

२ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। —पातञ्जलयोगसूत्र-साधनापाद—५

३ विकल्पचषकैरात्मा पीतमोहासवो ह्ययम्।
भवोच्चतालमुत्ताल प्रपञ्चमधिष्ठिति॥
—ज्ञानसार-मोहाष्टक

४ अज्ञानात्प्रसूता यस्माज्जगत्पर्णपरम्पराः।
यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते विसन्ति विलसन्ति च॥
—योगवाशिष्ठ-निर्वाण-प्रकरण. स०-६

५ अविद्या संसृतिर्बंधो माया मोहो महत्तमः।
कल्पितानीति नामानि यस्याः सकलवेदिभिः॥
—योगवाशिष्ठ-उत्पत्तिप्रकरण-स०-१/२०

६ ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन् सति हि मुक्तता।
मृगतृष्णाम्बुबुद्धया दिशन्ति मात्रात्मकस्वत्वसौ॥
—वही, उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग-११८/२३

७ अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते।
इत्येकोनिश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधः॥
—वही-उपशमप्रकरण, सर्ग—७९/२

८ अ. तन्निसर्गादधिगमाद्वा—तत्त्वार्थसूत्र—अध्याय-१/३
ब. एकस्तावद्गुरुप्रोक्तादनुष्ठानाच्छनैः शनैः।
जन्मना जन्मभिर्वापि सिद्धिदः समुदाहृतः॥
द्वितीयास्त्वात्मनैवाशु किंचिद्व्युत्पन्नचेतसा।
भवति ज्ञानसंप्राप्तिराकाशफलपातवत्॥
—वही-उपशमप्रकरण, सर्ग—७/२, ४

९ वही—उत्पत्तिप्रकरण—सर्ग—११७/२, ११, २४
तथा सर्ग ११८/५—१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. **विचारणा**—वैराग्य—अभ्यास के कारण, सदाचार में प्रवृत्ति होना।

१०. **तनुमानसा**—'शुभेच्छा' और 'विचारणा' के कारण इन्द्रिय-विषयों के प्रति विरक्ति में वृद्धि होना।

११. **स्वत्वापत्ति**—'सत्य' और 'शुद्ध' आत्मा में स्थिर होना।

१२. **असंसक्ति**—वैराग्य के परिपाक से चित्त में निरतिशय—आनन्द का प्रादुर्भाव होना।

१३. **पदार्थाभाविनी**—बाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थों पर से इच्छाएँ नष्ट हो जाना।

१४. **तूर्यगा**—भेदभाव का अभाव हो जाने से एकमात्र स्वभावनिष्ठा में स्थिर हो जाना। यह 'जीवन्मुक्त' जैसी अवस्था होती है। इस स्थिति के बाद की स्थिति, 'तूर्यातीत' अवस्था—'विदेहमुक्ति' अवस्था होती है।

उक्त चौदह अवस्थाओं में प्रारम्भ की सात भूमिकाएँ, अज्ञान की प्रबलता पर आधारित हैं। इसलिए, इन्हें आत्मा के मौलिक गुणों के अविकास क्रम में गिना जाता है। जबकि, बाद की सातों भूमिकाओं में 'ज्ञान' की वृद्धि होती रहती है। इसलिए इन्हें 'विकास-क्रम' में गिना जाता है। जैन-परिभाषा के अनुसार इन्हें क्रमशः 'मिथ्यात्व' एवं 'सम्यक्त्व' अवस्थाओं का सूचक माना गया है।

बौद्धदर्शनसम्मत अवस्थाएँ—बौद्धदर्शन, यद्यपि क्षणिकवादी है। फिर भी, उसमें आत्मा की 'संसार' और 'मोक्ष' अवस्थाएँ मानी गई हैं। अतएव उसमें भी आध्यात्मिक-विकास वर्णन का होना स्वाभाविक है। 'स्वरूपोन्मुख' होने की स्थिति से लेकर 'स्वरूप' की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने तक की अवस्था का वर्णन, बौद्ध ग्रंथों में, निम्नलिखित पाँच विभागों में विभाजित है—

१—'धर्मानुसारी' या 'श्रद्धानुसारी' वह कहलाता है, जो निर्वाण-मार्ग-मोक्षमार्ग का अभिमुख हो, किन्तु, उसे अभी निर्वाण प्राप्त न हुआ हो।[1]

२—सोतापन्न—मोक्षमार्ग को प्राप्त किये हुई आत्माओं के विकास की न्यूनाधिकता के कारण 'सोतापन्न' आदि चार विभाग हैं। जो आत्मा, अविनिपात, धर्मनियत और संबोधि-परायण हो, उसे 'सोतापन्न' कहते हैं। 'सोतापन्न' आत्मा, सातवें भव में अवश्य ही निर्वाण प्राप्त करती है।

३—सकदागामी—जो आत्मा, एक ही बार में, इस लोक में जन्म ग्रहण करके, मोक्ष जाने वाली आत्मा हो, उसे 'सकदागामी' कहते हैं।

४—अनागामी—जो आत्मा, इस लोक में जन्म ग्रहण करके, ब्रह्मलोक से सीधे मोक्ष जाने वाली आत्मा हो।

५—अरहा—जो सम्पूर्ण आस्रवों का क्षय करके कृतकृत्य हो जाती है, ऐसी आत्मा को 'अरहा' कहते हैं। इसके बाद निर्वाण की स्थिति बनती है।

उक्त पाँचों प्रकार की आत्माएँ, उत्तरोत्तर, अल्पश्रम से 'मार'—काम के वेग पर विजय प्राप्त करने वाली होती हैं। 'सोतापन्न' आदि उक्त चार अवस्थाओं का विचार, जैनदर्शनसम्मत चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के विचारों मिलता-जुलता है, जो, गुणस्थानों से वर्णन से स्पष्ट हो जायेगा।

बौद्ध ग्रंथों में दश-संयोजनाएँ-बंधन वर्णित हैं।[2]

---

१ इसी को जैनशास्त्रों में 'मार्गानुसारी' कहा है और उसके पेंतीस गुण बताये गए हैं। दृष्टव्य—हेमचंद्राचार्यकृत 'योगशास्त्र-प्रकाश—१

२ जैनशास्त्रों में 'संयोजना' शब्द का प्रयोग, अनन्त संसार को बांधने वाली 'अनन्तानुबंधी कषाय' के लिए किया हैं। इसी प्रकार बौद्धग्रन्थों में भी संयोजना का अर्थ 'बन्धन' लिया गया है। उसके दस नाम इस प्रकार हैं—सक्कायदिट्ठि, विचिकच्छा, सीलब्बतपराभास, कामणा, पट्टीघ, रूपराग, अल्पराग, मान, उद्धच्च और अविज्जा। —मज्झिमनिकाय (मराठी रूपान्तर) पृष्ठ-१५६, (टिप्पण)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनमें से पाँच 'ओरंभागीय' और पाँच 'उड्ढंभागीय' कही जाती है। प्रथम तीन संयोजनाओं का क्षय हो जाने पर सोतापन्न अवस्था प्राप्त होती है। इसके बाद राग-द्वेष-मोह शिथिल होने पर 'सकदागामी' अवस्था, पाँच ओरंभागीय संयोजनाओं का नाश होने पर 'अनागामी' अवस्था तथा दसों संयोजनाओं का नाश हो जाने पर 'अरहा' पद प्राप्त होता है।

'आजीवक' मत में आत्मविकास की क्रमिक स्थितियाँ—आजीवक मत का संस्थापक मंखलिपुत्र गोशालक है। जो, भगवान् महावीर की देखा-देखी करने वाला एक प्रतिद्वन्द्वी था। इसलिए उसने भी आत्मा के मौलिक गुणों के क्रमिक विकास की स्थितियों के निदर्शन हेतु, गुणस्थानों जैसी परिकल्पना अवश्य की होगी। किन्तु, उसके सम्प्रदाय का कोई स्वतन्त्र-साहित्य/ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण, इस सम्बन्ध में, कुछ भी, सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तथापि, बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध, आजीवकसम्मत, आत्म-विकास के निम्नलिखित आठ सोपान माने जा सकते हैं[1]—मन्द, खिड्डा, पदवीमंसा, उज्जुगत, सेख, समण, जिन और पन्न। इनका आशय इस प्रकार है—

१. मन्द—जन्म-दिन से लेकर सात दिनों तक, गर्भनिष्क्रमण, जन्म-दुःख के कारण, प्राणी 'मन्द' स्थिति में रहता है।

२. खिड्डा—दुर्गति से लेकर जन्म लेने वाला बालक, पुनः-पुनः रुदन करता है। और, सुगति से आने वाला बालक, सुगति का स्मरण कर हँसता है। यह 'खिड्डा' (क्रीडा) भूमिका है।

३. पदवीमंसा—माता-पिता का, या अन्य किसी का सहारा लेकर, धरती पर बालक का पैर रखना।

४. उज्जुगत—पैरों से, स्वतन्त्र रूप में चलने की सामर्थ्य प्राप्त करना।

५. सेख—शिल्प-कला आदि के अध्ययन के समय की शिष्य-भूमिका।

६. समण—गृह-त्याग कर संन्यास ग्रहण करना।

७. जिन—आचार्य की उपासना कर ज्ञान प्राप्त करने की भूमिका।

८. पन्न—प्राज्ञ-भिक्षु, जब दूसरों से विरक्त हो जाता है, ऐसे निर्लोभ-श्रमण की भूमिका।

उक्त आठ में से आदि की तीन भूमिकाएँ, अविकास की सूचक और अन्त की पाँच भूमिकाएँ, विकास की सूचक हैं। इनके बाद मोक्ष प्राप्त होता है।

यद्यपि, उक्त योग, बौद्ध और अजीवक-मत-मान्य आत्म-विकास की भूमिकाएँ, जैनदर्शन सम्मत गुणस्थानों जैसी क्रमबद्धता और स्पष्ट स्थिति की नहीं हैं, तथापि, उनका प्रासंगिक-संकेत, इसलिए किया है कि पुनर्जन्म, लोक, परलोक मानने वाले दार्शनिकों ने, आत्मा का संसार से मुक्त होने का चिन्तन किया है। अतएव, उक्त दार्शनिकों के चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में, जैनदर्शन के दृष्टिकोण से, आत्म-गुणों के विकास का क्रम, और विकास-पथ पर क्रम-क्रम से बढ़ती आत्मा की विशुद्धताजन्य स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए, संक्षेप में, गुणस्थान क्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

'गुणस्थान' का लक्षण—एक पारिभाषिक शब्द है—गुणस्थान। इसका अर्थ है—'गुणों के स्थान'। अर्थात्, आत्मा की मौलिक शक्तियों के विकास क्रम की द्योतक वे अवस्थाएं, जिनमें आत्मशक्तियों के आविर्भाव से लेकर, उनके शुद्ध-कार्यरूप में परिणत होते रहने की तर-तम-भावापन्न अवस्थाओं का द्योतन स्पष्ट होता है। यद्यपि, आत्मा अपने मौलिक रूप में 'शुद्ध चेतन' और 'आनन्दघन' है। फिर भी, जब तक राग-द्वेष एवं तज्जन्य कर्मावरण से आच्छादित है, तब तक उसे अपना यथार्थ

---

१ मज्झिमनिकाय-सुमंगलविलासिनी टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता। लेकिन, जैसे-जैसे राग-द्वेष का आवरण शिथिल या नष्ट होता है, वैसे-वैसे उसका असली स्वरूप प्रकट होता जाता है।

इस विकास-मार्ग में जीव को अनेक अवस्थाएँ पार करनी पड़ती हैं। जैसे, थर्मामीटर की नली के अंक, उष्णता के परिणाम को बतलाते हैं, वैसे ही, उक्त अवस्थाएँ, जीव के आध्यात्मिक विकास की मात्रा का संकेत करती हैं। विकास-मार्ग की इन्हीं क्रमिक अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं।

गुणस्थान-क्रम का आधार—आत्मा की प्रारम्भिक अवस्था, अनादिकाल से अज्ञानपूर्ण है। यह अवस्था, सबसे प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। इस अवस्था का कारण है—'मोह'। मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं, जिन्हें शास्त्रीय भाषा में 'दर्शनमोह' और 'चारित्रमोह' कहते हैं। इनमें से प्रथम शक्ति, आत्मा को 'दर्शन'—स्व-पररूप का निश्चयात्मक निर्णय, विवेक और विज्ञान—नहीं होने देती है। जबकि दूसरी शक्ति, विवेक प्राप्त कर लेने पर भी, आत्मा को तदनुसार प्रवृत्ति नहीं करने देती। व्यवहार में देखते हैं कि वस्तु का यथार्थ दर्शन/बोध होने पर भी उसे 'प्राप्त करने' या 'त्यागने' की चेष्टा, व्यक्ति द्वारा की जाती है। आध्यात्मिक विकासोन्मुख आत्मा के लिए भी यही दो कार्य मुख्य होते हैं—(१) स्व-रूप दर्शन, और (२) स्व-रूप स्थिति। 'दर्शनमोह' रूप प्रथम शक्ति जब तक प्रबल रहती है, तब तक 'चारित्रमोह' रूप दूसरी शक्ति भी तदनुरूप बनी रहती है। स्वरूप-बोध हो जाने पर स्वरूप-लाभ का मार्ग सुगम होता जाता है। किन्तु, स्वरूप-स्थिति के लिए आवश्यक है कि मोह की दूसरी शक्ति—'चारित्र-मोह' को शिथिल किया जाये। इसीलिए, आत्मा उसे शिथिल करने का प्रयत्न करती है, और, जब वह इसे अंशतः शिथिल कर लेती है, तब, उसकी 'उत्क्रान्ति' और भी ऊर्ध्वमुखी हो जाती है, जिससे स्वरूप-स्थिरता बढ़ने लगती है। अन्ततः, प्रयत्नोन्मुखी आत्मा, 'दर्शनमोह' व 'चारित्रमोह' का सर्वथा-नाश करके, पूर्णता को प्राप्त कर लेने पर ही विराम लेती है। आत्मा का यही तो परमसाध्य ध्येय है।

आशय यह है कि आत्मा के मौलिक-गुणों के विकास का यह क्रम, 'दर्शन' तथा 'चारित्र' मोह-शक्ति की शुद्धता के तर-तम-स्वरूप पर निर्भर होता है। शुद्धता की इसी तर-तमता के कारण, विकासोन्मुख आत्मा, जिन-जिन भूमिकाओं के स्तरों पर पहुँचता है, उन्हीं की संज्ञा है—'गुणस्थान'।

'ग्रंथि' का स्वरूप और उसके भेदन की प्रक्रिया : गुणस्थान क्रम का आधार है—मोह की 'सबलता' और 'निर्बलता', यह पूर्व में ही संकेतित है। इस 'मोह' को कैसे निर्बल बनाया जाये, संक्षेप में विचार कर लें।

आत्मा का स्वरूप, अनादिकाल से 'अधःपतित' है। इसका कारण राग-द्वेष रूप मोह का प्रबलतम आचरण है। इस तरह के आचरण का ही नाम, जैन शास्त्रों ने 'ग्रन्थि' रखा[१] है। लोक में भी हम देखते हैं कि लकड़ी में जहाँ-जहाँ 'ग्रन्थि' होती है, वहाँ से उसको काटना-छेदना दुस्साध्य होता है। राग-द्वेषरूप ग्रन्थि-गाँठ की भी यही स्थिति होती है। रेशमी-गाँठ की तरह यह सुदृढ़, सघन और दुर्भेद्य होती है। इसी के कारण जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है और विविध प्रकार के दुःख वेदन कर रहा है।

यद्यपि, इस स्थिति में विद्यमान समस्त आत्माओं को हम एक जैसा 'संसारी' 'बद्ध' आत्मा, मानते हैं, तथापि इनके आध्यात्मिक स्वरूप में एक जैसा समान-स्तर नहीं होता। क्योंकि, संसारी-जीवों में, मोह की दोनों शक्तियों का आधिपत्य, इनमें 'समानता' का द्योतन कराता अवश्य है, किन्तु, प्रत्येक

१४ विशेष विस्तार के लिए देखें—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा—११९५ से ११९७ तक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवात्मा में, इस आधिपत्य का कुछ न कुछ तर-तम भाव रहता ही है, जिससे इन सबकी संसार-स्थिति में विभिन्नता आ जाना, सहज हो जाता है। किसी जीवात्मा पर 'मोह' का प्रगाढ़ प्रभाव होता है, तो किसी में उससे कम, किसी में उससे भी कम होता है। जैसे, किसी पहाड़ी नदी में, बड़े-छोटे तमाम पत्थर, ऊपर से नीचे की ओर, जल प्रवाह के साथ लुढ़कते रहते हैं, और वे लुढ़कते, टकराते हुए गोल, चिकनी या अन्य अनेकों प्रकार की आकृतियाँ प्राप्त करते रहते हैं। नदी प्रवाह में लुढ़कना, टकराना, उनकी समान स्थिति का द्योतन करता है, किन्तु उनके लुढ़कने-टकराने से बनी अलग-अलग आकृतियाँ, उनमें विभिन्नता-विषमता की प्रतीक होती हैं।

किन्तु, इन जीवात्माओं पर, जाने-अनजाने में, या अन्य किसी प्रकार से, मोह का प्रभाव जब कम होने लगता है, तब, वह अपने तीव्रतम राग-द्वेष आदि परिणामों को भी 'मंद' कर लेती हैं। जिससे उसमें शनैः-शनैः, एक ऐसा आत्मबल प्रगट होने लगता है, जो उसके मोह को छिन्न-भिन्न करने का कारण बनता है। जैन दार्शनिक शब्दावली में इस स्थिति को 'यथाप्रवृत्तकरण' कहते हैं। यथा-प्रवृत्तकरण—वाली आत्माएँ, मोह की सघन-ग्रन्थि तक पहुँच तो जाती हैं, किन्तु उसे भेद पाने में समर्थ नहीं बन पाती हैं। इस दृष्टि से इस स्थिति को 'ग्रन्थिदेश-प्राप्ति' भी कहते हैं। ग्रन्थि-देश की प्राप्ति हो जाने से 'ग्रंथि भेदन' का मार्ग प्रशस्त बन जाता है।

ग्रन्थि भेदने का कार्य बड़ा विषम, दुष्कर है। एक ओर तो राग-द्वेष अपने पूर्ण-बल का प्रयोग करते हैं, दूसरी ओर, विकासोन्मुख आत्मा भी उनकी शक्ति को क्षीण-निर्बल बनाने के लिए, अपनी वीर्य-शक्ति का प्रयोग करती है। इस आध्यात्मिक-युद्ध में, कभी एक तो कभी दूसरा, 'जय' लाभ करता है। अनेकों आत्माएँ ऐसी भी होती हैं, जो प्रायः ग्रन्थि-भेद करने लायक बल प्रकट करके भी, अन्त में राग-द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर 'हार' मानकर अपनी मूल-स्थिति में आ जाती हैं। ऐसी आत्माएँ प्रयत्न करने पर भी राग-द्वेष पर विजय प्राप्त नहीं कर पातीं। अनेकों आत्माएँ ऐसी भी होती हैं, जो न तो हार खाकर पीछे हटती हैं, और, न ही 'जय' लाभ कर पाती हैं, तथापि, इस आध्यात्मिक युद्ध में चिरकाल तक डटी रहती हैं। किन्तु कोई-कोई आत्माएँ, ऐसी भी होती हैं, जो अपनी शक्तियों का यथोचित प्रयोग करके आध्यात्मिक युद्ध में विजय का वरण का लेती हैं। मोह की दुर्भेद्य-ग्रन्थि को भेद कर, उसे लांघ जाती हैं। जिन आत्म-परिणामों से ऐसा सम्भव हो जाता है, उसे 'अपूर्वकरण' कहते हैं।

अपूर्वकरण रूप परिणाम से राग-द्वेष की गांठ टूट जाने पर, जीव के परिणाम अधिक शुद्ध होने लग जाते हैं। ये परिणाम, 'अनिवृत्तिकरण' रूप होते हैं। इनसे राग-द्वेष की अति तीव्रता का उन्मूलन हो जाता है, जिससे दर्शनमोह पर 'जय' लाभ करना सहज बन जाता है। दर्शनमोह पर विजय प्राप्त कर लेने पर, अनादिकाल से चली आ रही परिभ्रमण रूप संसारी अवस्था को नष्ट करने का अवसर प्राप्त हो गया, मान लिया जाता है। इस स्थिति को, जैन-शास्त्रों की भाषा में 'अन्तरात्मभाव' कह सकते हैं। क्योंकि इस स्थिति को प्राप्त करके, विकासोन्मुख आत्मा, अपने अन्तस् में विद्यमान शुद्ध परमात्मभाव को देखने लगता है। इस भूमिका में यथार्थ आध्यात्मिक दृष्टि (आत्म-स्वरूपोन्मुखी दृष्टि) होने के कारण 'विपर्यास'—रहित होती है। जैनदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में इसी को 'सम्यक्त्व' कहा गया है।

गुणस्थानों के नाम और क्रम—संसारी दशा में आत्मा अज्ञान की प्रगाढ़ता के कारण, निकृष्ट अवस्था में रहता है, यह निर्विवाद है। किन्तु, इस अवस्था में भी अपनी स्वाभाविक चेतना 'चारित्र' आदि गुणों के विकास के कारण प्रगति की ओर उन्मुख होने के लिये आत्मा लालायित रहती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा शनैः-शनैः इन शक्तियों के विकास के अनुसार उत्क्रांति करती हुई विकास की चरम सीमा—पूर्णता प्राप्त करती है। प्रथम निकृष्ट-अवस्था से निकल कर विकास की अन्तिम भूमिका को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का परमसाध्य है, और उसी में उसके पुरुषार्थ की सफलता है।

इस 'परमसाध्य' की सिद्धि होने तक, आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, अनेकों क्रमिक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन अवस्थाओं की श्रेणियों को 'उत्क्रांति मार्ग' 'विकास क्रम' और जैनशास्त्रों की भाषा में 'गुणस्थान क्रम' कहते हैं। इस क्रम की विभिन्न अवस्थाओं को चौदह भागों में संक्षेपतः विभाजित कर दिया गया है। इसलिये, इसे 'चतुर्दश गुणस्थान' भी कहा जाता है। इनके नाम एवं क्रम इस प्रकार हैं:

१. मिथ्यात्व, २. सास्वादन (सासादन), ३. मिश्र (सम्यग्मिथ्यादृष्टि) ४. अविरतसम्यग्दृष्टि, ५. देशविरत, ६ प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. निवृत्ति (अपूर्वकरण) ९. अनिवृत्तिबादर सम्पराय, १०. सूक्ष्मसम्पराय, ११. उपशांतमोह १२. क्षीणमोह, १३. सयोगिकेवली, १४. अयोगिकेवली।

उक्त चौदह गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा, अर्थात् पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थानों में विकास की मात्रा अधिक रहती है। विकास की इस न्यूनाधिकता का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है, और इस स्थिरता की तर-तमता 'दर्शन' एवं 'चारित्र' शक्ति की शुद्धि के तार-तम्य पर आधारित है। दर्शन-शक्ति का जितना विकास होगा उतनी ही अधिक निर्मलता व विकास उसका होगा। दर्शन-शक्ति के विकास के अनन्तर चारित्र शक्ति के विकास का क्रम आता है। जितना अधिक चारित्र शक्ति का विकास होगा उतना ही उतना 'क्षमा' 'इन्द्रिय जय' आदि चारित्र गुणों का विकास होता जाता है। 'दर्शन' और 'चारित्र' शक्ति की विशुद्धि जैसे-जैसे बढ़ती है, वैसे-वैसे ही 'स्थिरता' की मात्रा भी वृद्धिगत होती जाती है और अन्ततः चरम-स्थिति तक पहुँचती है। इसी दृष्टि से गुणस्थानों का उक्तक्रम निर्धारित किया है।

'दर्शन' और 'चारित्र' शक्ति की विशुद्धि की 'वृद्धि' एवं 'ह्रास', तत्तत शक्तियों के प्रतिबन्धक संस्कारों की न्यूनाधिकता अथवा तीव्रता मन्दता पर पर अवलम्बित है। इन प्रतिबंधक संस्कारों को चार विभागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. 'दर्शनमोह' और 'अनन्तानुबन्धी कषाय'—यह दर्शन शक्ति का प्रतिबन्धक है। शेष तीन विभाग, चारित्र शक्ति के प्रतिबन्धक हैं।

२. अप्रत्याख्यानावरण कषाय—यह प्रतिबंधक, 'एकदेश चारित्र' का भी आंशिक विकास नहीं होने देता।

३. प्रत्याख्यानावरण कषाय—यह प्रतिबन्धक, 'सर्वविरति' रूप चारित्र शक्ति के विकास में बाधक बनता है।

४. संज्वलन कषाय—चारित्रशक्ति का विकास हो जाने पर भी उसकी 'शुद्धता' या 'स्थिरता' में अंतराय उपस्थित करने में यह प्रतिबन्धक निमित्त बनता है।

प्रथम तीन गुणस्थानों में, पहले प्रतिबन्धक की प्रबलता रहती है। जिससे 'दर्शन' और 'चारित्र' शक्ति का विकास नहीं हो पाता। किन्तु, चतुर्थ आदि गुणस्थानों में, इन प्रतिबन्धक संस्कारों की मन्दता हो जाती है, जिससे आत्मशक्तियों के विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

चतुर्थ गुणस्थान में 'दर्शनमोह' और 'अनन्तानुबन्धी' संस्कारों की प्रबलता नहीं रह जाती। किन्तु, चारित्र शक्ति के आवरणभूत संस्कारों का वेग अवश्य रहता है। इनमें से 'अप्रत्याख्यानावरण' कषाय के संस्कार का वेग चौथे गुणस्थान से आगे नहीं रहता, जिससे पंचम गुणस्थान में चारित्रिक शक्ति का प्राथमिक विकास होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रत्याख्यानावरण' कषाय नामक संस्कार का वेग, पाँचवें गुणस्थान से आगे नहीं होता जिससे चारित्र-शक्ति का विकास और अधिक बढ़ता है। इस कारण आत्मा, बाह्य इन्द्रिय भोगों से विरत होकर 'श्रमण'—'संन्यासी' हो जाता है। यह स्थिति छठवें गुणस्थान की भूमिका की सर्जिका बनती है। छठवें गुणस्थान में चारित्र-शक्ति को मलिन करने वाले 'संज्वलन' कषाय रूप संस्कारों के रहने से यद्यपि चारित्र-शक्ति का विकास दबता तो नहीं, किन्तु स्वरूप-लाभ की स्थिरता में व्यवधान आते रहते हैं। आत्मा, जब इन संस्कारों को अधिक-से-अधिक निर्बल कर देती है, तब 'उत्क्रांतिपथ' की सातवीं आदि भूमिकाओं (गुणस्थानों) को उलाँघ कर ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाती है। बारहवें गुणस्थान में 'दर्शन' और 'चारित्र' शक्ति के प्रतिबंधक-संस्कार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। अतः इन दोनों ही शक्तियों का पूर्णरूपेण विकास यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में हो जाता है, तथापि शरीर का सद्भाव, उस आत्मा के साथ बना रहता है। जबकि चौदहवें गुणस्थान में शरीर का भी सम्बन्ध नहीं रह जाता। अतः चारित्र शक्ति, अपने यथार्थ रूप में विकसित होकर सदा-सर्वदा के लिए एक-सी बन जाती है। इसी अवस्था को 'मोक्ष' कहते हैं।

गुणस्थान चौदह ही क्यों ?:—सामान्यतया आध्यात्मिक दृष्टि से संसारी जीवों के दो प्रकार हैं—१–मिथ्यावादी (मिथ्यादृष्टि)—अर्थात्, गाढ़-अज्ञान और विपरीत बुद्धि वाले जीव, २–सम्यक्त्वी (सम्यग्दृष्टि) अर्थात् ज्ञानी, विवेकशील, प्रयोजनभूत लक्ष्य के मर्मज्ञ।

उक्त दोनों प्रकार के जीवों में से प्रथम प्रकार के जीवों का बोध कराने वाला पहला गुणस्थान 'मिथ्यात्व' यानी 'मिथ्यादृष्टि' गुणस्थान है। सम्यग्-दृष्टि-जीवों के तीन प्रकार होते हैं—१–सम्यक्त्व से गिरते समय के स्वल्प-सम्यक्त्व वाले जीव, २–अर्ध-सम्यक्त्व और अर्ध-मिथ्यात्व वाले जीव, ३–विशुद्ध सम्यक्त्व वाले किन्तु चारित्र-रहित जीव। इन तीन स्थितियों में से स्वल्प-सम्यक्त्व वाले जीवों के लिए 'दूसरा'—'सासादन'–गुणस्थान; अर्ध-सम्यक्त्व और अर्ध-मिथ्यात्व वाले जीवों के लिए 'तीसरा' 'मिश्र' गुणस्थान; और विशुद्ध-सम्यक्त्व किन्तु चारित्ररहित जीवों के लिये 'चौथा'—'अविरत सम्यग्-दृष्टि' गुणस्थान है। इस गुणस्थान में दर्शन-मोह शक्ति उपशमित हो जाती है, अथवा सर्वथा क्षय हो जाती है। लेकिन, चारित्र-मोह शक्ति बनी रहती है। इसलिये, ये चारित्र-रहित सम्यग्दृष्टि-जीव 'चौथे'—अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले जीव कहलाते हैं।

जो जीव, 'सम्यक्त्व' और 'चारित्र' सहित हैं, उनके भी दो प्रकार हैं—१–एकदेश (आंशिक) चारित्र के पालक; और २–सर्वदेश (सम्पूर्ण) चारित्र का पालन करने वाले। इन दोनों भेदों में से 'एकदेशचारित्र' का पालन करने वाले जीवों का ग्रहण करने के लिए 'पाँचवाँ'—'देशविरतगुण-स्थान' है।

'सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने वाले जीव भी दो श्रेणियों के हैं—१–प्रमादवश 'अतिचार' यानी 'दोष'—संपृक्त हो जाने वाले; और २–प्रमाद-रहित 'निर्दोष'—चारित्र का पालन करने वाले। इनमें से प्रमादवश-अतिचार-संपृक्त सर्व-संयमी का ग्रहण कराने वाला 'छठा'—यानी 'प्रमत्त-संयत' गुणस्थान है। जबकि प्रमादरहित, निर्दोष-चारित्र का पालन करने वाले जीवों का बोधक 'सातवाँ'—'अप्रमत्त संयत'—गुणस्थान है।

यद्यपि, इस अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव को अभी पूर्ण—वीतराग दशा प्राप्त नहीं हुई है, और 'छद्मस्थ'—'कर्मावृत' है, किन्तु, वीतरागदशा प्राप्त करने की ओर उन्मुख है, जिससे, इस गुण-स्थानवर्ती कितने ही जीव, व्यवस्थित रीति से कर्मों का क्षय करने के लिये श्रेणी—आरोहण करते हैं। इस तरह के जीवों की आध्यात्मिक—विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। श्रेणी—आरोहण का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह क्रम, प्रत्येक समय 'अपूर्व' बनता रहता है। फलतः एक श्रेणी-क्रम की दूसरे श्रेणीक्रम से, दूसरे श्रेणीक्रम की तीसरे श्रेणीक्रम से तुलना/समानता नहीं होती है। इसी से, इन श्रेणीक्रमों वाले जीव को 'निवृत्ति' यानी 'अपूर्व'—करण नामक आठवें गुणस्थान वाला कहा जाता है।

श्रेणी-आरोहण से विशुद्धता की प्राप्ति, और उसमें क्रमिक वृद्धि होते रहने से, यद्यपि कषायों में निर्बलता, पर्याप्त आ जाती है, फिर भी, इन कषायों में पुनः उद्रेक होने की योग्यता बनी रहती है। अतः ऐसे कषाय—परिणाम वाले जीवों का बोध कराने वाला 'अनिबृत्तिबादर'—सँपराय नामक **नौवाँ** गुणस्थान है।

इस नौवें गुणस्थान में कषायों को प्रति-समय कृश से कृशतर करने की प्रक्रिया चालू रहती है, जिससे एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जिससे संसार की कारणभूत कषायों की मात्र झलक सी दिखाई देती है। इस स्थिति का ज्ञान कराने वाला दशवाँ —'सूक्ष्मसंपराय' नामक गुणस्थान है।

जिस तरह, झलकमात्र जैसी अतिसूक्ष्म अस्तित्व रखने वाली वस्तु या तो तिरोहित हो जाती है, या नष्ट, उसी तरह, जो कषायवृत्ति अत्यन्त कृश हो गई है, उसके उपशमित अथवा पूर्णरूपेण नष्ट हो जाने से जीव को अपने निर्मल स्वरूप का दर्शन होने लगता है। इस प्रकार की, यानी कषाय-शांत होने की अथवा कषाय नष्ट होने की, स्थितियों के दर्शक गुणस्थानों को क्रमशः 'उपशान्त-मोह' और 'क्षीणमोह' नामक ग्यारहवाँ—बारहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

बारहवें गुणस्थान में दर्शन और चारित्र शक्ति के प्रतिबंधक मोहनीय-कर्म के सर्वथा क्षय होने के साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षय होने से जीव को अनन्तज्ञान-दर्शन आदि निज गुण प्राप्त हो जाते हैं। लेकिन, अभी शरीर आदि योगों का संयोग बना रहता है। इससे इस स्थिति में पहुँचे जीव को 'सयोगि केवली' नामक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव की संज्ञा दी जाती है। किन्तु, जब शरीर आदि योगों से रहित, शुद्ध-ज्ञान-दर्शनयुक्त स्वरूप में रमण करने वाली आत्मा प्रकट हो जाती है, तब इस स्थिति को अयोगिकेवली नामक चौदहवाँ गुणस्थान कहा जाता है।

इस प्रकार, गाढ़ अज्ञान से प्रारम्भ हुआ आत्म-विकास का चरमस्थान, उत्तरोत्तर क्रम से प्राप्त होता है। इसके 'आदि' और 'अन्त' के अन्तराल में बारह 'पड़ाव'—'स्थान' ही सम्भव बन पाते हैं। इन्हें 'आदि' और 'अन्त' यानी 'चरम' के साथ मिला देने पर कुल संख्या 'चौदह' बन जाती है। इसी कारण से जैन शास्त्रों में चौदह गुणस्थानों की व्यवस्था को स्वीकार किया गया है।

गुणस्थानों का स्वरूप—जीव के विकास की प्रक्रिया की सीढ़ी का प्रारम्भिक स्थान है—'मिथ्यात्व' नाम का पहला गुणस्थान। इस विकास को पूर्णता प्राप्त होती है 'अयोगि केवली' नाम के चौदहवें गुणस्थान में। इन चौदहों गुणस्थानों का स्वरूप संक्षेप में, निम्नलिखित रूप में जाना/समझा जा सकता है।

१. **मिथ्यात्व गुणस्थान**—'मिथ्यात्व' नाम के मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की 'दृष्टि' यानी श्रद्धा—प्रतिपत्ति, 'मिथ्या' यानी विपरीत-उल्टी होती है, उसे 'मिथ्यादृष्टि' कहते हैं। जैसे—धतूरे के बीज खाने वाला मनुष्य, 'सफेद वस्तु' को भी 'पीला' देखता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरूप-विशेष को 'मिथ्यात्व'—'मिथ्यादृष्टि' कहते हैं।

यद्यपि, मिथ्यादृष्टि की दृष्टि विपरीत है। तथापि वह किसी अंश में यथार्थ भी होती है। क्योंकि वह जीव भी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि को इन्हीं रूपों में जानता है, तथा मानता है। इसीलिये, उसकी चेतना के स्वरूप-विशेष को 'गुणस्थान' कहा जाता है। लेकिन, कुछ अंश में यथार्थ होने पर भी, उसे 'सम्यग्दृष्टि' न कहे जाने का कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह होता है कि उसे सर्वज्ञ के वचन पर 'सम्यग्-दृष्टि' की तरह अखण्ड अटूट विश्वास नहीं होता है।

२. सासादन गुणस्थान—जो औपशमिक सम्यक्त्वी जीव, अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से 'सम्यक्त्व' को छोड़कर 'मिथ्यात्व' की ओर झुक रहा है, किन्तु, अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे जीव के स्वरूप-विशेष को 'सासादन-सम्यग्दृष्टि कहते हैं। अर्थात्, जिस प्रकार पर्वत से गिर कर नीचे की ओर आते व्यक्ति की भूमि पर पहुँचने से पहले, मध्यकालवर्ती जो दशा होती है, वह न तो पर्वत पर ठहरने की स्थिति है, न ही भूमि पर स्थित होने की; बल्कि दोनों—स्थितियों से रहित, 'अनुभय दशा' होती है। इसी प्रकार, अनन्तानुबंधी कषायों का उदय होने के कारण, 'सम्यक्त्व-परिणामों से छूटने' और 'मिथ्यात्व-परिणामों के प्राप्त होने' के मध्य की अनुभयकालिक—स्थिति में जो जीव-परिणाम होते हैं, उन्हें बतलाने वाली जीव-दशा का नाम है—'सासादन-गुणस्थान'।

३. मिश्रगुणस्थान— इस गुणस्थान का पूरा नाम है— 'सम्यग्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान'। इसी का संक्षिप्त नाम है 'मिश्रगुणस्थान'।

मिथ्यात्व—मोहनीय के 'अशुद्ध'—'अर्धशुद्ध' और 'शुद्ध', इन तीन पुँजों में से अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से, 'शुद्धता' और 'मिथ्यात्व' के अर्धशुद्धपुद्गलों का उदय होने से जब अशुद्धतारूप अर्धशुद्ध पुँज का उदय होता है, तब जीव की दृष्टि कुछ 'सम्यक्' (शुद्ध) और कुछ 'मिथ्या' (अशुद्ध) अर्थात्—'मिश्र' हो जाती है।

इस गुणस्थान दशा के समय, बुद्धि में दुर्बलता सी आ जाती है। जिससे जीव सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्वों पर न तो 'एकान्त-रुचि' करता है, और न 'एकान्त-अरुचि'। किन्तु, मध्यस्थ भाव रखता है। इस प्रकार की दृष्टि वाले जीव का स्वरूप-विशेष 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि' (मिश्र) गुणस्थान कहलाता है।

इस गुणस्थान की यह विशेषता है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव, न तो परभव की आयु का बन्ध करता है, और न 'मरण' को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं हो सकता है और न ही वह 'संयम' ('सकल संयम' या 'देशसंयम') ग्रहण कर सकता है।

४. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—'हिंसा' आदि सावद्य-व्यापारों के त्याग को 'विरति' कहते हैं। अतएव, जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार की 'विरति'—'व्रत' को धारण नहीं कर सकता, वह जीव 'अविरत सम्यग्दृष्टि' होता है। इसी के स्वरूप-विशेष को 'अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान' कहते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती जीव को अविरत सम्यग्दृष्टि कहने का कारण यह है कि सम्यग्दर्शन होने पर भी 'एकदेश सयम' की घातक 'अप्रत्याख्यानावरण' कषाय का उदय उसमें रहता है। इस तरह के जीवों में कोई जीव 'औपशमिक' कोई 'क्षायोपशमिक' और कोई 'क्षायिक' सम्यक्त्वी होते हैं।

५. देशविरतगुणस्थान—'सकल संयम' की घातक कषाय का उदय होने के कारण, जो जीव सर्वसावद्य क्रियायों से सर्वथा तो नहीं, किंतु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने से 'देश (अंश) से, पापजनक-क्रियाओं से 'विरत'—'पृथक्' हो सकते हैं, वे 'देशविरत' हैं। इन जीवों के स्वरूप-विशेष को 'देशविरत'—गुणस्थान कहते हैं। देशविरत को 'श्रावक' भी कहते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती कोई जीव, एक व्रत लेते हैं, कोई दो व्रत, कोई तीन-चार-पाँच आदि बारह व्रत तक लेते हैं। ये व्रत 'अणुव्रत' 'गुणव्रत' और 'शिक्षा व्रत' इन तीन विभागों में विभाजित हैं। कोई जीव श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करते हैं। इस प्रकार, अधिक से अधिक व्रतों का पालन करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं, जो पापकर्मों में अनुमति के सिवाय, परिवार से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते हैं।

६. प्रमत्त-संयत गुणस्थान—जो व्यक्ति, पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, वे 'संयत' (मुनि) हैं। लेकिन ये संयत भी जब तक 'प्रमाद' का सेवन करते हैं, तब तक, 'प्रमत्त-संयत' कहलाते रहते हैं। इन्हीं के स्वरूप-विशेष को 'प्रमत्त-संयत' **गुणस्थान** कहते हैं।

यद्यपि 'सकल संयम' को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होने से, इस गुणस्थान में 'पूर्ण संयम' तो हो चुकता है, किंतु 'संज्वलन' आदि कषायों के उदय से संयम में 'मल' उत्पन्न करने वाले प्रमाद के रहने से इसे 'प्रमत्त संयत' कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव, सावद्य कर्मों का यहाँ तक त्याग कर देते हैं, कि पूर्वोक्त 'संवासानुमति' को भी नहीं सेवते हैं।

७. **अप्रमत्त-संयत गुणस्थान**—जो संयत (मुनि) 'विकथा' 'कषाय' आदि प्रमादों[1] को नहीं सेवते हैं, वे 'अप्रमत्तसंयत' हैं। इनके स्वरूप-विशेष को 'अप्रमत्तसंयत' गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में संज्वलन-नोकषायों और कषायों का मंद-उदय होने से व्यक्त-अव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुकते हैं। जिससे इस गुणस्थानवर्ती जीव, सदैव ही ज्ञान, ध्यान, तप में लीन रहते हैं।

'प्रमत्तसंयत' और 'अप्रमत्तसंयत' गुणस्थान में इतना अन्तर है कि 'अप्रमत्तसंयत' में थोड़ा सा भी प्रमाद नहीं रहता, जिससे व्रत आदि में 'अतिचार'— आदि सम्भव नहीं हो पाते। जबकि 'प्रमत्त संयत' जीव के 'प्रमाद' होने से व्रतों में 'अतिचार' लगने की सम्भावना रहती है।

८. **निवृत्ति बादर गुणस्थान**—इस गुणस्थान का दूसरा नाम 'अपूर्वकरण' गुणस्थान भी है। जिस 'अप्रमत्तसंयत' जीव की अनन्तानुबन्धी 'अप्रत्याख्यानावरण' और 'प्रत्याख्यानावरण' रूप कषाय-चतुष्कों की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को 'निवृत्तिबादर' गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान को 'अपूर्वकरण' इसलिए कहा जाता है कि इसमें निम्नलिखित पाँच बातें विशेष रूप से होती हैं—

स्थितिघात—कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना, अर्थात् आगे उदय में आने वाले कर्मदलिकों को अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना।

रसघात—बद्ध-कर्मों की तीव्र-फलदान-शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द करना।

गुणश्रेणी—उदय के नियत समयों से हटाए गए—'स्थितिघात' किए गए कर्मदलिकों को समय-क्रम से 'अन्तर्मुहूर्त' में स्थानान्तरित कर देना।

गुणसंक्रमण—पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृतियों को 'बध्यमान'—शुभप्रकृतियों में स्थानान्तरित कर देना।

अपूर्व स्थितिबन्ध—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प-स्थिति के कर्मों का बांधना।

इस आठवें गुणस्थान में आत्मा की विशिष्ट-योगीरूप अवस्था आरम्भ होती है। छठे और सातवें गुणस्थान में बारम्बार आने से विशेष प्रकार की विशुद्धि-प्राप्त करके औपशमिक या क्षायिक-भाव रूप विशिष्ट फल प्राप्त करने के लिए 'चारित्र-मोहनीय'—कर्म का उपशमन या क्षय किया जाता है, जिससे 'उपशम' या 'क्षपक'[2] श्रेणी प्राप्त होने वाली होती है।

९. **अनिवृत्ति गुणस्थान**—इसका पूरा नाम 'अनिवृत्ति बादर सम्पराय' गुणस्थान है। इसमें 'बादर'—स्थूल, 'सम्पराय'—कषाय, उदय में होता है, तथा सम-समयवर्ती-जीवों के परिणामों समानता होने—भिन्नता न होने से, इस गुणस्थान को 'अनिवृत्ति बादर-सम्पराय' गुणस्थान कहते हैं।

इस नौवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं—'उपशमक' और 'क्षपक'।

---

१ प्रमाद के पन्द्रह प्रकार होते हैं—
चार विकथाएं—स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा, चौरकथा, चार कषाएं—क्रोध, मान, माया, लोभ, स्पर्शन, रसन, आदि पांच इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति तथा निद्रा और स्नेह

२ 'उपशम' श्रेणि और 'क्षपक' श्रेणि का आशय आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रमोहनीय का शमन करने वाले 'उपशमक' और 'क्षय' करने वाले 'क्षपक' कहलाते हैं। मोहनीय-कर्म की उपशमना या क्षपणा करते-करते अन्य अनेक कर्मों का भी 'उपशमन' या 'क्षपण' करते हैं।

आठवें और नौवें गुणस्थानों में यद्यपि 'विशुद्धि' होती रहती है; फिर भी प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। जैसे कि आठवें गुणस्थान में सम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों का, 'समान-शुद्धि' होने के कारण एक ही 'वर्ग' होता है। नौवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नताएँ आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों को भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती है।

१०. **सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान**—इस गुणस्थान में 'सम्पराय' अर्थात्—लोभ-कषाय के सूक्ष्म-खण्डों का ही उदय होने से इसे 'सूक्ष्म-सम्पराय' गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती जीव के भी दो प्रकार—'उपशमक' और 'क्षपक' होते हैं। 'लोभ' के अलावा 'चारित्र-मोहनीय' कर्म की, कोई दूसरी ऐसी प्रकृति नहीं होती, जिसका उपशमन या क्षपण न हो चुका हो। अतः 'उपशमक' लोभ का उपशमन, और 'क्षपक' लोभ का क्षपण, इस श्रेणी में करके 'यथाख्यात'—चारित्र से कुछ ही न्यून रह जाते हैं। अर्थात् उनमें यथाख्यात-चारित्र के प्रकट होने में कुछ ही कमी रह जाती है।

११. **उपशान्तमोह गुणस्थान**—इस गुणस्थान का पूरा नाम 'उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ' गुणस्थान है। जिनके 'कषाय' उपशान्त हो गये हैं, 'राग' का सर्वथा उदय नहीं है और जिनको 'छद्म'-आवरणभूत घाति-कर्म लगे हैं, वे जीव 'उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ' हैं। इन्हीं के स्वरूप-विशेष को उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में वर्तमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। क्योंकि, आगे के गुणस्थान वही प्राप्त कर सकता है, जो 'क्षपक' श्रेणी को चाहता है। क्षपक श्रेणी के बिना 'मोक्ष' प्राप्त नहीं होता है। यह गुणस्थान उपशम श्रेणी को करने वाला है। उपशमक का पतन अवश्यम्भावी होता है।

इस गुणस्थान का यदि अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण समय पूरा न हो, और आयु-क्षय से जीव 'मरण' को प्राप्त होने से गिरता है तो अनुत्तर-विमान में 'देव'-रूप में उत्पन्न होता है। देवों के 'पाँचवें'—आदि गुणस्थान नहीं होते। प्रथम चार गुणस्थान होते हैं। अतः उक्त प्रकार का जीव, चौथे गुणस्थान को प्राप्त करके, उस गुणस्थान में, उन समस्त कर्म-प्रकृतियों का बन्ध—आदि करना आरम्भ कर देता है, जिन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा की सम्भावना उस गुणस्थान में होती है। यदि आयु-शेष रहते, गुणस्थान का समय पूरा हो जाने पर, कोई जीव, अपने गुणस्थान से गिरता है, तो, आरोहण क्रम के अनुसार, जिन गुणस्थानों को प्राप्त करते हुए जिन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध, उदय आदि का विच्छेद उसने किया था, उनको, पतन के समय से सम्बद्ध गुणस्थान-सम्बन्धी-प्रकृतियों के बन्ध, उदय आदि को, अवरोह-क्रम से, पुनः प्रारम्भ कर देता है। गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरने वाला कोई जीव छठे गुणस्थान में, कोई पाँचवें गुणस्थान में, कोई चौथे गुणस्थान में और कोई दूसरे गुणस्थान में होकर पहले गुणस्थान तक आ जाता है।

१२. **क्षीणमोह गुणस्थान**—मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने के पश्चात् ही यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थान का पूरा नाम 'क्षीण-कषाय वीतराग छद्मस्थ' गुणस्थान है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो जीव, मोहनीय-कर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं, किन्तु 'छद्म' (घातिकर्म का आवरण) अभी भी विद्यमान है, उनको 'क्षीण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषायवीतराग' कहते हैं और उनके स्वरूप-विशेष को 'क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ' गुणस्थान कहते हैं।

मोहनीय-कर्म का सर्वथा-क्षय हो जाने से इस गुणस्थानवर्ती जीव के भाव स्फटिक-मणि के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान विमल होते हैं। इस गुणस्थान से 'पतन' नहीं होता है। क्योंकि, इसमें वर्तमान जीव 'क्षपक' श्रेणी वाले ही होते हैं। 'पतन' का कारण 'मोहनीय' कर्म है। किन्तु यहाँ उसका सर्वथा—निःशेष रूप से क्षय हो चुका है।

इस गुणस्थान तक, आत्म-गुणों के घातककर्मों का सर्वथा-क्षय हो जाने से 'योग-निमित्तक'—कर्मावरण शेष रह जाता है। इसी की अपेक्षा से 'सयोगि-केवली' नामक तेरहवाँ और 'योग' का सम्बन्ध न रहने पर होने वाला 'अयोगि केवली' नामक चौदहवाँ गुणस्थान सम्भव होता है। इनका स्वरूप निर्दिष्ट करने से पहले, कर्मक्षय की विशेष प्रक्रिया रूप 'उपशम' श्रेणी और 'क्षपक' श्रेणी का निर्देश संक्षेप में यहाँ करना उचित होगा।

उपशम श्रेणी—इस श्रेणी के प्रारम्भ होने का क्रम, संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार है—

चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव, पहले अनन्तानुबन्धी 'क्रोध' आदि चार कषायों का उपशम करता है। तदनन्तर, अन्तर्मुहूर्त्त में, सम्यक्त्व मोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय रूप दर्शनमोहनीय-त्रिक का एक साथ उपशमन करता है। इसके बाद वह जीव छठे और सातवें गुणस्थान में अनेक बार आता-जाता रहता है। अनन्तर आठवें गुणस्थान में होता हुआ नौवें गुणस्थान को प्राप्त करके, वहाँ चारित्र-मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का उपशमन करना प्रारम्भ कर देता है।

यह उपशमन इस क्रम से होता है—सर्वप्रथम 'नपुंसकवेद', पश्चात् क्रमशः 'स्त्रीवेद', 'हास्य-आदि-षट्क'[1], पुरुषवेद, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण क्रोधयुगल, संज्वलनक्रोध, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-मानयुगल, संज्वलमान, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण - मायायुगल, संज्वलनमाया, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभयुगल को, तथा दशवें गुणस्थान में संज्वनललोभ को उपशमित करता है। इस प्रकार से मोहनीय कर्म के सर्वांशतः उपशमित हो जाने से इस श्रेणी को 'उपशमक' श्रेणी कहते हैं।

क्षपक श्रेणी—इस श्रेणी का आरोहक जीव चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में, सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और दर्शनमोह-त्रिक, इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय करता है। अनन्तर, आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण-क्रोधादि कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषाय चतुष्क, इन आठ कर्म प्रकृतियों के क्षय को प्रारम्भ करता है। जब तक ये आठ प्रकृतियाँ 'क्षय' नहीं हो पातीं कि बीच में ही नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में, स्त्यानर्द्धि-त्रिक-आदि सोलह अशुभ-प्रकृतियों का क्षय कर डालता है और फिर अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण कषाय अष्टक के शेष रहे अंश का क्षय करता है। नौवें गुणस्थान के अन्त में क्रम से नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य-षट्क, पुरुषवेद, संज्वलन-क्रोध-मान-माया का क्षय करता है। अन्त में, दशवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ का भी क्षय कर देता है। इस प्रकार सम्पूर्ण मोहनीय तथा साथ में कतिपय-अशुभ प्रकृतियों का क्षय होने से इसे क्षपक श्रेणी कहते हैं।

'उपशमक' और 'क्षपक' श्रेणी में विशेषता यह है कि उपशमक श्रेणी में सिर्फ मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ उपशमित होती हैं, जो निमित्त मिलने

१ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छः नोकषायों की 'हास्यषट्क' यह संज्ञा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर पुनः अपना प्रभाव प्रदर्शित करती हैं। जिससे पतन होने पर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान तक की प्राप्ति शक्य है। लेकिन क्षपक-श्रेणी में मोहनीय कर्म का तो सर्वथा क्षय होता ही है, उसके साथ उन कुछ प्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है जो अशुभ वर्ग की हैं। जिससे चतुर्थ गुणस्थान में देखे गये परमात्मस्वरूप की स्पष्ट प्रतीति—दर्शन होने लगते हैं। शेष रह गये 'छद्म'—घातिकर्म, इतने निःशेष हो जाते हैं कि क्षणमात्र में उनका क्षय होने पर, आत्मा स्वयं परमात्म दशा को प्राप्त कर जीवन्मुक्त-अवस्था में स्थित हो जाती है।

१३. **सयोगिकेवली गुणस्थान**—मोहनीय कर्म के साथ शेष—'ज्ञानावरण'—'दर्शनावरण' और 'अन्तराय' इन तीन घाति—कर्मों का क्षय करके 'केवलज्ञान', 'केवलदर्शन' प्राप्त कर चुकने से पदार्थों को जानने-देखने में 'इन्द्रिय'—'आलोक' आदि की अपेक्षा जो नहीं रखते, तथा योग—सहित हैं, उन्हें 'सयोगि-केवली' कहते हैं, और उनके स्वरूप-विशेष को 'सयोगि केवली' गुणस्थान कहते हैं।

सयोगिकेवली भगवान् 'मनोयोग' का उपयोग मन द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर मन द्वारा देने में करते हैं। उपदेश देने के लिए 'वचन' योग का, तथा हलन-चलन आदि क्रियाओं में 'काय' योग का उपयोग करते हैं।

सयोगिकेवली यदि 'तीर्थङ्कर' हों, तो 'तीर्थ' की 'स्थापना' एवं 'देशना' द्वारा तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

१४. **अयोगिकेवली गुणस्थान**—जो केवली भगवान् मन, वचन, काय के योगों का निरोध कर, योगरहित हो शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, वे 'अयोगिकेवली' कहलाते हैं। इन्हीं के स्वरूप विशेष को 'अयोगिकेवली' गुणस्थान कहते हैं।

योग-निरोध का क्रम इस प्रकार है—सर्वप्रथम बादर (स्थूल) काययोग से बादर मनोयोग और वचनयोग को रोकते हैं। अनन्तर सूक्ष्म काययोग से उक्त बादरयोग को रोकते हैं। इसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग और वचनयोग को रोकते हैं। अन्त में, सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान के बल से उस सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं। इस प्रकार से, योगों का निरोध होने से, 'सयोगि-केवली' भगवान् 'अयोगिकेवली' बन जाते हैं। साथ ही उसी सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी खाली भाग—मुख, उदर आदि भाग को, आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। उनके आत्मप्रदेश इतने सघन हो जाते हैं कि वे शरीर के दो तिहाई हिस्से में समा जाते हैं। इसके बाद, समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाती शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और 'पाँच ह्रस्व-अक्षर' (अ-इ-उ-ऋ-लृ) के उच्चारण काल का 'शैलेशीकरण' करके चारों अघाति कर्मों—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्मों—का सर्वथा क्षय करने पर, समय-मात्र की ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन करके 'लोक' के अग्रभाग में स्थित 'सिद्धक्षेत्र' में चले जाते हैं।

लोक के अग्रभाग में विराजमान ये 'सिद्ध' भगवन्त, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों, राग-द्वेष आदि भावकर्मों से रहित होकर, अनन्त शांति सहित ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध-अवगाहनत्व, नित्य, कृतकृत्य अवस्था में अनन्तकाल तक रमण करते रहते हैं। सर्वथा कर्मबन्ध का अभाव हो जाने से पुनः संसार-परिभ्रमण के चक्कर में उनका आगमन नहीं होता है।

यदि किसी सयोगिकेवली भगवान् की आयु-कर्म की स्थिति दलिक कम हो, और उसकी अपेक्षा वेदनीय, नाम तथा गोत्र, इन तीन कर्मों की स्थिति एवं पुदगलपरमाणु अधिक होते हैं, वे आठ समय वाले 'केवली-समुद्घात' के द्वारा आयुकर्म की स्थिति एवं पुद्गलपरमाणुओं के बराबर वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म की स्थिति व पुद्गलपरमाणुओं को कर लेते हैं। परन्तु, जिन केवलियों के वेदनीय आदि तीनों अघाति-कर्मों की स्थिति और पुद्गल परमाणु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'आयुकर्म' के बराबर हैं, वे 'समुद्घात' नहीं करते हैं। और, परम-निर्जरा के कारणभूत तथा लेश्या से रहित अत्यन्त स्थिरता रूप ध्यान के लिये पूर्वोक्त रीति से योगों का निरोध कर अयोगि अवस्था प्राप्त करते हैं।

गुणस्थानों की शाश्वतता-अशाश्वतता—उक्त चौदह गुणस्थानों में से प्रथम, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और त्रयोदशम् ये पाँच गुणस्थान लोक में 'शाश्वत' हैं। अर्थात् सदा विद्यमान रहते हैं। इन गुणस्थानों वाले जीव, लोक में अवश्य पाये जाते हैं। जबकि शेष नौ गुणस्थास 'अशाश्वत' हैं। 'पर-भव' में जाते समय जीव को पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुण-स्थान होते हैं। तीसरा, बारहवाँ और तेरहवाँ, ये तीन गुणस्थान 'अमर' हैं। अर्थात्, इनमें जीव का मरण नहीं होता है। पहला, दूसरा, तीसरा, पांचवां और ग्यारहवां, इन पाँच गुणस्थानों का, तीर्थंकर स्पर्श नहीं करते है। चौथे, पांचवे, छठे, सातवें, आठवें, इन पाँच गुणस्थानों में ही जीव 'तीर्थंकर'-गोत्र को बाँधता है। बारहवां, तेरहवाँ और चौद-हवाँ, ये तीन गुणस्थान 'अप्रतिपाती' हैं। अर्थात् इन्हें प्राप्त कर लेने के पश्चात् जीव का पतन नहीं होता है। पहले, चौथे, सातवें, आठवें, नौवें, दशवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें, इन नौ गुणस्थानों को 'मोक्ष' जाने से पूर्व, जीव अवश्य ही स्पर्श करता है। दूसरा गुणस्थान, अधःपतनोन्मुख-आत्मा की स्थिति का द्योतक है। लेकिन, पहले की अपेक्षा इस गुणस्थान में 'आत्मशुद्धि' अवश्य कुछ अधिक होती है। इसलिए इसका क्रम, पहले के बाद रखा गया है। परन्तु इस गुणस्थान को 'उत्क्रांति' करने वाली कोई आत्मा, प्रथम गुणस्थान से निकल कर सीधे ही, तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकती है। और 'अवक्रांति' करने वाली कोई आत्मा, चतुर्थ आदि गुणस्थान से पतित होकर, तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार 'उत्क्रांति' और 'अवक्रांति' करने वाली दोनों ही प्रकार की आत्माओं का आश्रयस्थान 'तीसरा' गुणस्थान है।

संक्षेप में, गुणस्थान-क्रमारोहण का स्वरूप यही समझना चाहिए।

□

—o—

● **आत्मा के तीन प्रकार—**

तिप्पयारो सो अप्पो पर-मन्तर बाहिरो दु हेऊणं।

आत्मा के तीन प्रकार हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढ़ना—ऊर्ध्वारोहण है।

—मोक्ष पाहुड ४

—□—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org